# ग्रन्थ-परीक्षा

## तृतीय भाग

अर्थात्

सोमसेन-त्रिवर्णाचार, धर्मपरीक्षा ( श्वेताम्बरी ), अकलंक-प्रतिष्ठापाठ और पूज्यपाद-उपासकाचारके परीक्षा-लेखोंका संग्रह।


लेखक—

**श्रीयुत पंडित जुगलकिशोर मुख्तार**

सरसावा जि० सहारनपुर

[ ग्रन्थ-परीक्षा प्रथम द्वितीय भाग, उपासनातत्त्व, जिनपूजाधिकार-मीमांसा, विवाहसमुद्देश्य, विवाह-क्षेत्र-प्रकाश, स्वामीसमन्तभद्र ( इतिहास ), वीर-पुष्पांजलि, जैनाचार्योंका शासनभेद, आदि अनेक ग्रन्थोंके रचयिता, और जैनहितैषी आदि पत्रोंके भूतपूर्व सम्पादक ]


---


प्रकाशक—

**जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,**

हीराबाग, पो० गिरगांव-बम्बई।

---

भादों, सं०, १९८५ विक्रम
सितम्बर, सन् १९२८

मूल्य १॥)

प्रकाशक
छगनमल बाकलीवाल
मालिक—जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय
हीराबाग, पो० गिरगांव—बम्बई।



मुद्रक
बाबू दुर्गाप्रसाद
दुर्गा प्रेस अजमेर
इस ग्रन्थ के १ से २४४ पृष्ठ
और कवर आदि
म. ना. कुळकर्णी कर्नाटक प्रेस
३१८ ए ठाकुरद्वार मुंबई।

# भूमिका ।

—:०:—

वर्षाका जल जिस शुद्ध रूपमें वरसता है, उस रूपमें नहीं रहता; आकाशसे नीचे उतरते उतरते और जलाशयोंमें पहुँचते पहुँचते वह विकृत हो जाता है और इसके बाद तो उसमें इतनी विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं कि उनके मारे उसके वास्तविक स्वरूपका हृदयंगम कर सकना भी दुष्कर हो जाता है। फिर भी जो वस्तुतत्त्वके मर्मज्ञ हैं, पदार्थोंका विश्लेषण करनेमें कुशल या परीक्षाप्रधानी हैं, उन्हें उन सब विकृतियोंसे पृथक् वास्तविक जलका पता लगानेमें देर नहीं लगती है। परमहितैषी और परम वीतराग भगवान् महावीरकी वाणीको एक कविने जलवृष्टिकी उपमा दी है, जो बहुत ही उपयुक्त मालूम होती है। पिछले ढाई हजार वर्षोंका उपलब्ध इतिहास हमें बतलाता है कि भगवान्का विश्वकल्याणकारी समीचीन धर्म जिस रूपमें उपदिष्ट हुआ था, उसी रूपमें नहीं रहा, धीरे धीरे वह विकृत होता गया, ज्ञात और अज्ञातरूपसे उसे विकृत करनेके बराबर प्रयत्न किये जाते रहे और अब तक किये जाते हैं। सम्प्रदाय, संघ, गण, गच्छ, आम्नाय, पन्थ आदि सब प्रायः इन्हीं विकृतियोंके परिणाम हैं। भगवानका धर्म सबसे पहले दिगम्बर और श्वेताम्बर दो सम्प्रदायोंमें विभक्त हुआ, और उसके बाद मूल, यापनीय, द्रविड़, काष्ठा, माथुर, आदि नाना संघों और उनके गणों तथा गच्छोंमें विकृत होता रहा है। यह असंभव है कि एक धर्मके इतने भेद प्रभेद होते जायँ और उसकी मूल प्रकृतिपर विकृतियोंका प्रभाव नहीं पड़े। यद्यपि सर्वसाधारण जन इन सम्प्रदायों और पन्थोंके विकारसे विकृत हुए धर्मका वास्तविक शुद्ध स्वरूप अवधारण नहीं कर सकते हैं; परन्तु समय समयपर ऐसे विचारशील विवेकी महात्माओंका जन्म अवश्य होता रहता है जो इन सब विकारोंका अपनी रासायनिक और विश्लेषक बुद्धिसे पृथक्करण करके वास्तविक धर्मको स्वयं देख लेते हैं और दूसरोंको दिखा जाते हैं।

जो लोग यह समझते हैं कि वर्तमान जैनधर्म ठीक वही जैनधर्म है जिसका उपदेश भगवान् महावीरकी दिव्यवाणीद्वारा हुआ था, उसमें जरा भी परिवर्तन, परिवर्द्धन या सम्मेलन नहीं हुआ है—अक्षरशः ज्योंका त्यों चला आ रहा है, उन्हें धर्मात्मा या श्रद्धालु भले ही मान लिया जाय; परन्तु विचारशील नहीं कहा जा सकता। यह संभव है कि उन्होंने शास्त्रोंका अध्ययन किया हो, वे शास्त्री या पण्डित कहलाते हों; परन्तु शास्त्र पढ़ने या परीक्षायें देनेसे ही यह नहीं कहा जा सकता है कि वे इस विषयमें कुछ गहरे पैठ सके हैं। जो लोग यह जानते हैं कि मनुष्य रागद्वेषसे युक्त हैं, अपूर्ण हैं और उनपर देश-कालका कल्पनातीत प्रभाव पड़ता है, वे इस बातपर कभी विश्वास नहीं करेंगे

कि ढाई हजार वर्षके इतने लम्बे समयमें, इतने संघों और गण-गच्छोंकी खींचातानीमें पड़ कर भी उनके द्वारा भगवान्के धर्ममें जरा भी रूपान्तर नहीं हुआ है।

हमारे समाजके विद्वान् तो अभी तक यह माननेको भी तैयार नहीं थे कि जैनाचार्योंमें भी परस्पर कुछ मतभेद हो सकते हैं। यदि कहीं कोई ऐसे भेद नजर आते थे, तो वे उन्हें अपेक्षाओंकी सहायतासे या उपचार आदि कह कर टाल देते थे; परन्तु अब 'ग्रन्थपरीक्षा'के लेखक पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपनी सुचिन्तित और सुपरीक्षित 'जैनाचार्योंका शासनभेद' * नामकी लेखमालामें इस बातको अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है कि जैनाचार्योंमें भी काफी मतभेद थे, जो यह विश्वास करनेके लिए पर्याप्त हैं कि भगवानका धर्म शुरूसे अब तक ज्योंका त्यों नहीं चला आया है और उसके असली रूपके सम्बन्धमें मतभेद हो सकता है।

संसारके प्रायः सभी धर्मोंमें रूपान्तर हुए हैं और बराबर होते रहते हैं। उदाहरणके लिए पहले हिन्दू धर्मको ही ले लीजिए। बड़े बड़े विद्वान् इस बातको स्वीकार करते हैं कि जैनधर्म और बौद्धधर्मके जबर्दस्त प्रभावोंमें पड़कर उसकी 'वैदिकी हिंसा' लुप्तप्राय हो गई है और वैदिक समयमें जिस गौके बछड़ेके मांससे ब्राह्मणोंका अतिथिसत्कार किया जाता था, (महोजं वा महोक्षं वा श्रोत्रियाय प्रकल्पयेत्) वही आज हिन्दुओंकी पूजनीया माता है और वर्तमान हिन्दू धर्ममें गोहत्या महापातक गिना जाता है। हिन्दू अब अपने प्राचीन धर्मग्रन्थोंमें बतलाई हुई नियोगकी प्रथाको व्यभिचार और अनुलोम-प्रतिलोम विवाहोंको अनाचार समझते हैं। जिस बौद्धधर्मने संसारसे जीवहिंसाको उठा देनेके लिए प्रबल आन्दोलन किया था, उसीके अनुयायी तिब्बत और चीनके निवासी आज सर्वभक्षी बने हुए हैं—चूहे छँछूदर, कीड़े व मकोड़े तक उनके लिए अखाद्य नहीं हैं। महात्मा बुद्ध नीच ऊँचके भेदभावसे युक्त वर्णव्यवस्थाके परम विरोधी थे; परन्तु आज उनके नेपालदेशवासी अनुयायी हिन्दुओंके ही समान जातिभेदके रोगसे ग्रसित हैं। महात्मा कबीर जीवन भर इस अध्यात्मवाणीको सुनाते रहे कि—

जात पाँत पूछे नहिं कोई,
हरिको भजे सो हरिका होई।

परन्तु आज उनके लाखों अनुयायी जातिपाँतिके कीचड़में अपने अन्य पड़ौसियोंके ही समान फँसे हुए हैं। इस ऊँच-नीचके भेदभावकी बीमारीसे तो सुदूर यूरोपसे आया हुआ ईसाई धर्म भी नहीं बच सका है। पाठकोंने सुना होगा कि मद्रास प्रान्तमें ब्राह्मण ईसाइयोंके गिरजाघर जुदा और शूद्र ईसाइयोंके गिरिजाघर जुदा हैं और वे एक दूसरेको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। ऐसी दशामें यदि हमारे जैनधर्ममें देशकालके प्रभा-

* यह लेखमाला अब मुख्तारसाहबके द्वारा संशोधित और परिवर्द्धित होकर जैन-ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय बम्बईद्वारा पुस्तकाकार प्रकाशित हो गई है।

बसे और अपने पड़ौसी धर्मोंके प्रभावसे कुछ विकृतियाँ घुस गई हों, तो इसपर किसी-को आश्चर्य नहीं होना चाहिए। इन विकृतियोंमें कुछ विकृतियाँ इतनी स्थूल हैं कि उन्हें साधारण बुद्धिके लोग भी समझ सकते हैं। यथा—

१—जैनधर्मसम्मत वर्णव्यवस्थाके अनुसार जिसका कि आदिपुराणमें प्रतिपादन किया गया है, प्रत्येक वर्णके पुरुष अपनेसे बादके सभी वर्णोंकी कन्याओंके साथ विवाह कर सकते हैं; बल्कि धर्मसंग्रहश्रावकाचारके अनुसार तो पहलेके तीन वर्णोंमें परस्पर अनुलोम और प्रतिलोम दोनों ही क्रमोंसे विवाह हो सकता है और पुराणग्रन्थोंके उदाहरणोंसे इसकी पुष्टि भी होती है *; परन्तु वर्तमान जैनधर्म तो एक वर्णकी जो सैकड़ों जातियाँ बन गई हैं और जैनधर्मका पालन कर रही हैं, उनमें भी परस्पर विवाह करना पाप बतलाता है और इसके लिए उसके बड़े बड़े दिग्गज पण्डित शास्त्रोंसे खींच तानकर प्रमाण तक देनेकी धृष्टता करते हैं! क्या यह विकृति नहीं है?

२—भगवज्जिनसेनके आदिपुराणकी 'वर्णलाभक्रिया' के अनुसार प्रत्येक अजै-नको जैनधर्मकी दीक्षा दी जा सकती है और फिर उसका नया वर्ण स्थापित किया जा सकता है, तथा उस नये वर्णमें उसका विवाहसम्बन्ध किया जा सकता है। उसको उसके प्राचीन धर्मसे यहाँ तक जुदा कर डालनेकी विधि है कि उसका प्राचीन गोत्र भी बदल कर उसे नये गोत्रसे अभिहित करना चाहिए। परन्तु वर्तमान जैनधर्मके ठेके-दारोंने भोली भाली जनताको सुधारकोंके विरुद्ध भड़कानेके लिए इसी बातको एक हथि-यार बना रक्खा है कि देखिए, ये मुसलमानों और ईसाइयोंको भी जैनी बनाकर उनके साथ रोटी-बेटी व्यवहार जारी कर देना चाहते हैं। मानो मुसलमान और ईसाई मनुष्य ही नहीं हैं! क्या यह विकृति नहीं है? क्या भगवान् महावीरका विश्वधर्म इतना ही संकीर्ण था? लब्धिसारकी १९५ वीं गाथाकी टीकासे† स्पष्ट मालूम होता है कि म्लेच्छ देशसे आये हुए म्लेच्छ पुरुष भी मुनिदीक्षा ले सकते थे और इस तरह मुक्तिप्राप्तिके अधिकारी बनते थे।

---

* इस विषयको अच्छी तरह समझनेके लिए पंडित जुगलकिशोर मुख्तारकी लिखी हुई 'विवाहक्षेत्रप्रकाश' नामकी पुस्तक और मेरा लिखा हुआ 'वर्ण और जातिभेद' नामका निबन्ध देखिए। यह निबन्ध शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है।

† म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं संभवतीति नाशंकितव्यं। दिग्वि-जयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जात-वैवाहिकसंम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात्। अथवा तत्कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजः संयमसंभवात् तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात्॥ १९५॥ पृष्ठ २४१।

३—सारत्रयके प्रसिद्ध टीकाकार श्री जयसेनसूरिके कथनानुसार सत्-शूद्र भी मुनि-दीक्षा ले सकते हैं * । परन्तु वर्तमान जैनधर्म तो शूद्रोंको इसके लिए सर्वथा अयोग्य समझता है । शूद्र तो खैर बहुत नीची दृष्टिसे देखे जाते हैं; परन्तु उन दक्षिणी जैनियोंके भी मुनिदीक्षा लेने पर कोलाहल मचाया जाता है जिनके यहाँ विधवाविवाह होता है । उदार जैनधर्मपर इस प्रकारकी विकृतियाँ क्या लाञ्छनस्वरूप नहीं हैं ?

जैसा कि प्रारंभमें कहा जा चुका है, इन विकृतियोंको पहिचान करके असली धर्मको प्रकाशमें लानेवाली विभूतियाँ समय समय पर होती रहती हैं । सारत्रयके कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द ऐसी ही विभूतियोंमेंसे एक थे । वर्तमान दिगम्बर संप्रदायके अधिकांश लोग अपनेको कुन्दकुन्दकी आम्नायका बतलाते हैं । मालूम नहीं, लोगोंका कुन्द-कुन्दाम्नाय और कुन्दकुन्दान्वयके सम्बन्धमें क्या खयाल है; परन्तु मैं तो इसे जैनधर्ममें उस समय तक जो विकृतियाँ हो गई थीं उन सबको हटाकर उसके वास्तविक स्वरूपको आविष्कृत करके सर्व साधारणके समक्ष उपस्थित करनेवाले एक महान् आचार्यके अनु-यायियोंका सम्प्रदाय समझता हूँ । भगवान् कुन्दकुन्दके पहले और पीछे अनेक बड़े बड़े आचार्य हो गये हैं, उनकी आम्नाय या अन्वय न कहलाकर कुन्दकुन्दकी ही आम्नाय या अन्वय कहलानेका अन्यथा कोई बलवत्कारण दृष्टिगोचर नहीं होता है । मेरा अनुमान है कि भगवत्कुन्दकुन्दके समय तक जैनधर्म लगभग उतना ही विकृत हो गया था, जितना वर्तमान तेरहपन्थके उदय होनेके पहले भट्टारकोंके शासन-समयमें हो गया था और उन विकृतियोंसे मुक्त करनेवाले तथा जैनधर्मके परम वीतराग शान्त मार्गको फिरसे प्रवर्तित करनेवाले भगवान् कोण्डकुण्ड ही थे । परन्तु समयका प्रभाव देखिए कि वह संशोधित शान्तमार्ग भी चिरकाल तक शुद्ध न रहा, आगे चलकर वही भट्टारकोंका धर्म बन गया । कहाँ तो तिल-तुष मात्र परिग्रह रखनेका भी निषेध और कहाँ हाथी घोड़े और पालकियोंके ठाठबाट ! घोर परिवर्तन हो गया !

जब कुन्दकुन्दान्वयी शुद्ध मार्ग धीरे धीरे इतना विकृत हो गया—विकृतिकी पराकाष्ठापर पहुँच गया, तब कुछ विवेकी और विश्लेषक विद्वानोंका ध्यान फिर इस ओर गया और जैसा कि मैंने अपने 'वनवासियों और चैत्यवासियोंके सम्प्रदाय या तेरह-पन्थ और बीसपन्थ' +शीर्षक विस्तृत लेखमें बतलाया है, विक्रमकी सत्रहवीं शताब्दिमें स्वर्गीय पं० बनारसीदासजीने फिर एक संशोधित और परिष्कृत मार्गकी नीव डाली, जो पहले 'वाणारसीय' या 'बनारसी-पन्थ' कहलाया और आगे चल कर तेरहपन्थके

---

* ...एवंगुणविशिष्टपुरुषो जिनदीक्षाग्रहणे योग्यो भवति । यथायोग्यं सच्छूद्राद्यपि —प्रवचनसारतात्पर्यवृत्ति, पृष्ठ ३०५ ।

+ देखो, जैनहितैषी भाग १४, अंक ४ ।

नामसे प्रसिद्ध हुआ †। इस पन्थने और इसके अनुयायी पं० टोडरमल्लजी, पं० जयचन्दजी, पं० दौलतरामजी, पं० सदासुखजी, पं० पन्नालालजी दूनीवाले आदि विद्वानोंने जो साहित्य निर्माण किया और जिस शुद्धमार्गका प्रतिपादन किया, उसने दिगम्बरसम्प्रदायमें एक बड़ी भारी क्रान्ति कर डाली और उस क्रान्तिका प्रभाव इतना वेगशाली हुआ कि उससे जैनधर्मके शिथिलाचारी महन्तों या भट्टारकोंके स्थायी समझे जानेवाले सिंहासन देखते देखते धराशायी हो गये और कई सौ वर्षोंसे जो धर्मके एकच्छत्रधारी सम्राट् बन रहे थे, वे अप्रतिष्ठाके गहरे गढ़ेमें फेंक दिये गये।

भट्टारकोंका उक्त विकृत मार्ग कितना पुराना है, इसका अनुमान पण्डितप्रवर आशाधरद्वारा उद्धृत इस वचनसे होता है—

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैः बठरैश्चतपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम्॥

अर्थात् भ्रष्टचरित्र पण्डितों और बठर साधुओं या भट्टारकोंने जिन भगवान्‌का निर्मल शासन मलीन कर डाला। पं० आशाधरजी विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिके अन्तमें मौजूद थे और उन्होंने इस श्लोकको किसी अन्य ग्रन्थसे उद्धृत किया है। अर्थात् इससे भी बहुत पहले भगवान् महावीरके शासनमें अनेक विकृतियाँ पैठ गई थीं।

तेरहपन्थके पूर्वोक्त मिशनने जैनधर्मकी विकृतियोंको हटाने और उसके शुद्ध स्वरूपको प्रकट करनेमें जो प्रशंसनीय उद्योग किया है, वह चिरस्मरणीय रहेगा। यदि इसका उदय न हुआ होता, तो आज दिगम्बर जैनसमाजकी क्या दुर्दशा होती, उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती है। वागड़ प्रान्तमें दौरा करनेवाले बम्बई जैन प्रान्तिक सभाके एक उपदेशकने कोई १०-१२ वर्ष हुए मुझसे कहा था कि कुछ समय पहले वहाँके श्रावक शास्त्रस्वाध्याय आदि तो क्या करेंगे, उन्हें जिन भगवान्‌की मूर्तिका अभिषेक और प्रक्षाल करनेका भी अधिकार नहीं था। भट्टारकजीके शिष्य पण्डितजी ही जब कभी आते थे, यह पुण्यकार्य करते थे और अपनी दक्षिणा लेकर चले जाते थे। कहते थे, तुम बाल-बच्चोंवाले अब्रह्मचारी लोग

---

† सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर साधु श्रीमेघविजयजी महोपाध्यायने अपना 'युक्तिप्रबोध' नामका प्राकृत ग्रन्थ स्वोपज्ञ संस्कृतटीकासहित इस 'वाणारसीय' मतके खण्डनके लिए ही विक्रमकी अठारहवीं शताब्दिके प्रारंभमें बनाया था—"वोच्छं सुयणहितत्थं वाणारसियस्स मयभेयं।"—सुजनोंके हितार्थ वाणारसी मतका भेद कहता हूँ। इस ग्रन्थमें इस मतकी उत्पत्तिका समय विक्रमसंवत् १६८० प्रकट किया है। यथा—

सिरिविक्कमनरनाहागएहिं सोलहसएहिं वासेहिं।
असि उत्तरेहिं जायं वाणारसिअस्स मयमेयं॥ १८॥

भगवान्की प्रतिमाका स्पर्श कैसे कर सकते हो ? और यह तो अभी कुछ ही वर्षोंकी बात है जब भट्टारकोंके कर्मचारी श्रावकोंसे मारमारकर अपना टैक्स वसूल करते थे तथा जो श्रावक उनका वार्षिक टैक्स नहीं देता था, वह बँधवा दिया जाता था ! हम आज भले ही इस बातको महसूस न कर सकें; परन्तु एक समय था, जब समूचा दिगम्बर जैन समाज इन शिथिलाचारी साथ ही अत्याचारी पोपोंकी पीडित प्रजा था और इन पोपोंके सिंहासनको उलट देनेवाला यही शक्तिशाली तेरहपन्थ था। यह इसीकी कृपाका फल है, जो आज हम इतनी स्वाधीनताके साथ धर्मचर्चा करते हुए नजर आ रहे हैं।

तेरहपन्थने भट्टारकों या महन्तोंकी पूजा-प्रतिष्ठा और सत्ताको तो नष्टप्राय कर-दिया; परन्तु उनका साहित्य अब भी जीवित है और उसमें वास्तविक धर्मको विकृत कर देनेवाले तत्त्व मौजूद हैं। यद्यपि तेरहपन्थी विद्वानोंने अपने भाषाग्रन्थोंके द्वारा और ग्राम ग्राम नगर नगरमें स्थापित की हुई शास्त्रसभाओंके द्वारा लोगोंको इतना सजग और सावधान अवश्य कर दिया है कि अब वे शिथिलाचारकी बातोंको सहसा माननेके लिए तैयार नहीं होते हैं और वे यह भी जानते हैं कि भेषी पाखण्डियोंने वास्तविक धर्मको बहुतसी मिथ्यात्वपोषक बातोंसे भर दिया है; फिर भी संस्कृत ग्रन्थोंके और अपने पूर्व-कालीन बड़े बड़े मुनि तथा आचार्योंके नामसे वे अब भी ठगाये जाते हैं। बेचारे सरल प्रकृतिके लोग इस बातकी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं कि धूर्त लोग आचार्य भद्रबाहु, कुन्दकुन्द, उमास्वाति, भगवज्जिनसेन आदि बड़े बड़े पूज्य मुनिराजोंके नामसे भी ग्रन्थ बनाकर प्रचलित कर सकते हैं ! उन्हें नहीं मालूम है कि संस्कृतमें जिस तरह सत्य और महान् सिद्धान्त लिखे जा सकते हैं, उसी तरह असत्य और पापकथायें भी रची जा सकती हैं !

अतएव इस ओरसे सर्वथा निश्चिन्त न होना चाहिए। लोगोंको इस संस्कृतभक्ति और नामभक्तिसे सावधान रखनेके लिए और उनमें परीक्षाप्रधानताकी भावनाको दृढ बनाये रखनेके लिए अब भी आवश्यकता है कि तेरहपन्थके उस मिशनको जारी रक्खा जाय जिसने भगवान् महावीरके धर्मको विशुद्ध बनाये रखनेके लिए अब तक निःसीम परिश्रम किया है। हमें सुहृद्वर पण्डित जुगल किशोरजी मुख्तारका चिर कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने अपनी 'ग्रन्थ-परीक्षा' नामक लेखमाला और दूसरे समर्थ लेखों-द्वारा इस मिशनको बराबर जारी रक्खा है और उनके अनवरत परिश्रमने भट्टारकोंकी गद्दियोंके समान उनके साहित्यके सिंहासनको भी उलट देनेमें कोई कसर बाकी नहीं रक्खी है।

लगभग १२ वर्षके बाद 'ग्रन्थपरीक्षा' का यह तृतीय भाग प्रकाशित हो रहा है जिसका परिचय करानेके लिए मैं ये पंक्तियाँ लिख रहा हूँ। पिछले दो भागोंकी

अपेक्षा यह भाग बहुत बड़ा है, और यही सोचकर यह इतने विस्तृत रूपमें लिखा गया है कि अब इस विषयपर और कुछ लिखनेकी आवश्यकता न रहे। भट्टारकी साहित्यके प्रायः सभी अंग प्रत्यंग इसमें अच्छी तरह उघाड़कर दिखला दिये हैं और जैनधर्मको विकृत करनेके लिए भट्टारकोंने जो जो जघन्य और निन्द्य प्रयत्न किये हैं, वे प्रायः सभी इसके द्वारा स्पष्ट हो गये हैं।

'मुख्तारसाहबने इन लेखोंको, विशेषकरके सोमसेन त्रिवर्णाचारकी परीक्षाको, कितने परिश्रमसे लिखा है और यह उनकी कितनी बड़ी तपस्याका फल है, यह बुद्धिमान् पाठक इसके कुछ ही पृष्ठ पढ़कर जान लेंगे। मैं नहीं जानता हूँ कि पिछले कई सौ वर्षोंमें किसी भी जैन विद्वानने कोई इस प्रकारका समालोचक ग्रन्थ इतने परिश्रमसे लिखा होगा और यह बात तो विना किसी हिचकिचाहटके कही जा सकती है कि इस प्रकारके परीक्षालेख जैनसाहित्यमें सबसे पहले हैं और इस बातकी सूचना देते हैं कि जैनसमाजमें तेरहपन्थद्वारा स्थापित परीक्षाप्रधानताके भाव नष्ट नहीं हो गये हैं। वे अब और भी तेजीके साथ बढ़ेंगे और उनके द्वारा मलिनीकृत जैनशासन फिर अपनी प्राचीन निर्मलताको प्राप्त करनेमें समर्थ होगा।

विद्वज्जनबोधक आदि ग्रन्थोंमें भी भट्टारकोंके साहित्यकी परीक्षा की गई है और उसका खण्डन किया गया है; परन्तु उनके लेखकोंके पास जाँच करनेकी केवल एक ही कसौटी थी कि अमुक विधान वीतराग मार्गके अनुकूल नहीं है, अथवा यह अमुक बड़े आचार्यके मतसे विरुद्ध है और इससे उनका खण्डन बहुत जोरदार न होता था; क्योंकि श्रद्धालु फिर भी कह सकता था कि यह भी तो एक आचार्यका कहा हुआ है, अथवा यह विषय किसी ऐसे पूर्वाचार्यके अनुसार लिखा गया होगा जिसे हम नहीं जानते हैं; परन्तु ग्रन्थ-परीक्षाके लेखक महोदयने एक दूसरी अलब्धपूर्व कसौटी प्राप्त की है जिसकी पहलेके लेखकोंको कल्पना भी नहीं थी और वह यह कि उन्होंने हिन्दुओंके स्मृतिग्रन्थों और दूसरे कर्मकाण्डीय ग्रन्थोंके सैकड़ों श्लोकोंको सामने उपस्थित करके बतला दिया है कि उक्त ग्रन्थोंमेंसे चुरा चुरा कर और उन्हें तोड़-मरोड़कर सोमसेन आदिने ये अपने अपने 'भानमतीके कुनबे' तैयार किये हैं। जाँच करनेका यह ढंग बिल्कुल नया है और इसने जैन-धर्मका तुलनात्मक पद्धतिसे अध्ययन करनेवालोंके लिए एक नया मार्ग खोल दिया है।

ये परीक्षालेख इतनी सावधानीसे और इतने अकाट्य प्रमाणोंके आधारसे लिखे गये हैं कि अभीतक उन लोगोंकी ओरसे जो कि त्रिवर्णाचारादि भट्टारकी साहित्यके परम पुरस्कर्त्ता और प्रचारक हैं, इनकी एक पंक्तिका भी खण्डन नहीं किया गया है और न अब इसकी आशा ही है। ग्रन्थपरीक्षाके पिछले दो भागोंको प्रकाशित हुए लगभग एक युग (१२ वर्ष) बीत गया। उस समय एक दो पण्डितमन्योंने इधर उधर घोषणायें की थीं कि हम उनका खण्डन लिखेंगे; परन्तु वे अब तक लिख ही रहे हैं। यह तो असंभव है कि लेखोंका

खण्डन लिखा जा सकता और फिर भी पण्डितोंका दलका दल चुपचाप बैठा रहता; परन्तु बात यह है कि इनपर कुछ लिखा ही नहीं जा सकता। थोड़ी बहुत पोल होती, तो वह ढँकी भी जा सकती; परन्तु जहाँ पोल ही पोल है, वहाँ क्या किया जाय? गरज यह कि यह लेखमाला प्रतिवादियोंके लिए लोहेके चने हैं, यह सब तरहसे सप्रमाण और युक्तियुक्त लिखी गई है।

मुझे विश्वास है कि जैनसमाज इस लेखमालाका पूरा पूरा आदर करेगा और इसे पढ़ कर जैनधर्ममें घुसे हुए मिथ्या विश्वासों, शिथिलाचारों और अजैन प्रवृत्तियोंको पहिचाननेकी शक्ति प्राप्त करके वास्तविक धर्मपर आरूढ़ होगा।

मेरी समझमें इस लेखमालाको पढ़कर पाठकोंका ध्यान नीचे लिखी हुई बातोंकी ओर आकर्षित होना चाहिएः—

१—किसी ग्रन्थपर किसी जैनाचार्य या विद्वान्का नाम देखकर ही यह निश्चय न कर लेना चाहिए कि वह जैनग्रन्थ ही है और उसमें जो कुछ लिखा है वह सभी भगवानकी वाणी है।

२—भट्टारकोंने जैनधर्मको बहुत ही दूषित किया है। वे स्वयं ही भ्रष्ट नहीं हुए थे, जैनधर्मको भी उन्होंने भ्रष्ट करनेका प्रयत्न किया था। यह प्रायः असंभव है कि जो स्वयं भ्रष्ट हो, वह अपनी भ्रष्टताको शास्त्रोक्त सिद्ध करनेका कोई स्पष्ट या अस्पष्ट प्रयत्न न करे।

३—भट्टारकोंके पास विपुल धनसम्पत्ति थी। उसके लोभसे अनेक ब्राह्मण उनके शिष्य बन जाते थे और समय पाकर वे ही भट्टारक बनकर जैनधर्मके शासक पदको प्राप्त कर लेते थे। इसका फल यह होता था कि वे अपने पूर्वके ब्राह्मणत्वके संस्कार ज्ञात और अज्ञात रूपसे जैनधर्ममें प्रविष्ट करनेका प्रयत्न करते थे। उनके साहित्यमें इसी कारण अजैन संस्कारोंका इतना प्राबल्य है कि उसमें वास्तविक जैनधर्म बिल्कुल छुप गया है।

४—सुना गया है कि भट्टारक लोग ब्राह्मणोंको नौकर रखकर उनके द्वारा अपने नामसे ग्रन्थरचना कराते थे। ऐसी दशामें यदि उनके साहित्यमें जैनधर्मकी कलई किया हुआ ब्राह्मण साहित्य ही दिखलाई दे, तो कुछ आश्चर्य न होना चाहिए।

५—इस बातका निश्चय करना कठिन है कि भट्टारकोंके साहित्यका कबसे प्रारंभ हुआ है; इसलिए अब हमें इस दूधसे जलकर छाँछको भी फूँक फूँककर पीना चाहिए। हमें अपनी एक ऐसी विवेककी कसौटी बना लेनी चाहिए जिसपर हम प्रत्येक ग्रन्थको कस सकें। जिस तरह हमें किसी बड़े आचार्यके नामसे भुलावेमें न पड़ना चाहिए, उसी तरह प्राचीनताके कारण भी किसी ग्रन्थपर विश्वास न कर लेना चाहिए।

६—संस्कृतके विद्यार्थियों, पण्डितों तथा शास्त्रियोंका ध्यान इन लेखमालाओंके द्वारा तुलनात्मक पद्धतिकी ओर आकर्षित होना चाहिए और उन्हें प्रत्येक विषयका अध्ययन खूब परिश्रमसे करनेकी आदत डालनी चाहिए। ये परीक्षा लेख बतलाते हैं कि परिश्रम करना किसे कहते हैं।

७—अभी जरूरत है कि और अनेक विद्वान्, इस मार्गपर काम करें। भट्टारकोंके रचे हुए कथाग्रन्थ और चरितग्रन्थ बहुत अधिक हैं। उनका भी बारीकीसे अध्ययन किया जाना चाहिए और जिन प्राचीन ग्रन्थोंके आधारसे वे लिखे गये हैं, उनके साथ उनका मिलान किया जाना चाहिए। भट्टारकोंने ऐसी भी बीसों कथायें स्वयं गढ़ी हैं जिनका कोई मूल नहीं है।

अन्तमें सुहृद्वर पण्डित जुगल किशोरजीको उनके इस परिश्रमके लिए अनेकशः धन्यवाद देकर मैं अपने इस वक्तव्यको समाप्त करता हूँ। सोमसेन-त्रिवर्णाचारकी यह परीक्षा उन्होंने मेरे ही आग्रह और मेरी ही प्रेरणासे लिखी है, इस लिए मैं अपनेको सौभाग्यशाली समझता हूँ। क्योंकि इससे जैनसमाजका जो मिथ्याभाव हटेगा, उसका एक छोटासा निमित्त मैं भी हूँ। इति।

मुलुण्ड (ठाणा)<br>भाद्रकृष्ण २, सं० १९८५

निवेदक—<br>नाथूराम प्रेमी।

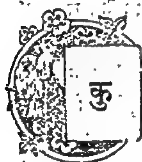
# विषय-सूची



# ग्रन्थ परीक्षा।

## ( तृतीय भाग )

### सोमसेन-त्रिवर्णाचार की परीक्षा।



कुछ वर्ष हुए मैंने 'जैन हितैषी' में 'ग्रन्थ परीक्षा' नाम की एक लेखमाला निकालनी प्रारम्भ की थी, जो कई वर्ष तक जारी रही और जिसमें ( १ ) उमास्वामि श्रावकाचार ( २ ) कुन्दकुन्द श्रावकाचार ( ३ ) जिनसेन त्रिवर्णाचार, ( ४ ) भद्रबाहु संहिता और ( ५ ) धर्म परीक्षा ( श्वेताम्बर ) नामक ग्रंथों पर विस्तृत आलोचनात्मक निबन्ध लिखे गये* और उनके द्वारा, गहरी खोज तथा जाँच के बाद, इन ग्रंथों की असलियत को खोल कर सर्व साधारण के सामने रक्खा गया और यह सिद्ध किया गया कि ये सब

---

* अकलंक-प्रतिष्ठा पाठ, नेमिचन्द्र संहिता ( प्रतिष्ठा तिलक ) और पूज्यपाद-उपासकाचार नाम के ग्रन्थों पर भी छोटे छोटे लेख लिखे गये, जिनका उद्देश्य प्रायः ग्रन्थ कर्ता और ग्रन्थ के निर्माण-समयादि-विषयक नासमझी को दूर करना था और उनके द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि ये ग्रन्थ क्रमशः तत्वार्थ-राजवार्तिक के कर्ता भट्टाकलंकदेव, गोम्मटसार के प्रणेता श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती और सर्वार्थसिद्धि के रचयिता श्री पूज्यपादाचार्य के बनाये हुए नहीं हैं।

ग्रंथ जाली तथा बनावटी हैं और इनका अवतार कुछ क्षुद्र पुरुषों अथवा तस्कर लेखकों द्वारा आधुनिक भट्टारकी युग में हुआ है। इस लेखमाला ने समाज को जो नया सन्देश सुनाया, जिस भूल तथा गफ़लत का अनुभव कराया, अन्धश्रद्धा की जिस नींद से उसे जगाया और उसमें जिस विचारस्वातंत्र्य तथा तुलनात्मक पद्धति से ग्रंथों के अध्ययन को उत्तेजित किया, उसे यहाँ बतलाने की ज़रूरत नहीं है, उसका अच्छा अनुभव उक्त लेखों के पढ़ने से ही सम्बंध रखता है। हाँ इतना ज़रूर बतलाना होगा कि इस प्रकार की लेखमाला उस वक्त जैन समाज के लिये एक बिलकुल ही नई चीज़ थी, इसने उसके विचार वातावरण में अच्छी क्रान्ति उत्पन्न की, सहृदय विद्वानों ने इसे खुशी से अपनाया, इसके अनेक लेख दूसरे पत्रों में उद्धृत किये गये, अनुमोदन किये गये, मराठी में अनुवादित हुए और अलग पुस्तकाकार भी छपाये गये *। स्याद्वादवारिधि पं० गोपालदासजी बरैय्या ने, जिनसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा के बाद से, त्रिवर्णाचारों को अपने विद्यालय के पठनक्रम से निकाल दिया और दूसरे विचारशील विद्वान् भी उस वक्त से बराबर अपने कार्य तथा व्यवहार के द्वारा उन लेखों की उपयोगितादि को स्वीकार करते अथवा उनका अभिनंदन करते आ रहे हैं। और यह सब उक्त लेखमाला की सफलता का अच्छा परिचायक है। उस वक्त—जिनसेन त्रिवर्णाचार की परीक्षा लिखते समय मैंने यह प्रगट किया था कि 'सोमसेन-त्रिवर्णाचार की परीक्षा भी एक स्वतंत्र लेख द्वारा की जायगी'। परंतु खेद है कि अनवकाश के कारण इच्छा रहते भी, मुझे आज तक उसकी परीक्षा

---

* बम्बई के जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय ने 'ग्रन्थ परीक्षा' प्रथम भाग और द्वितीय भाग नाम से, पहले चार ग्रन्थों के लेखों को दो भागों में छाप कर प्रकाशित किया है और उनका लागत मूल्य क्रमशः छह आने तथा चार आने रक्खा है।

लिखने का कोई अवसर नहीं मिल सका। मैं उस वक्त से बराबर ही दूसरे ज़रूरी कामों से घिरा रहा हूँ। आज भी मेरे पास, यद्यपि, इसके लिये काफ़ी समय नहीं है—दूसरे अधिक ज़रूरी कामों का ढेर का ढेर सामने पड़ा हुवा है और उसकी चिंता हृदय को व्यथित कर रही है—परंतु कुछ अर्से से कई मित्रों का यह लगातार आग्रह चल रहा है कि इस त्रिवर्णाचार की शीघ्र परीक्षा कीजाय। वे आज कल इसकी परीक्षा को ख़ास तौर से आवश्यक महसूस कर रहे हैं और इसलिये आज उसी का यत्किंचित् प्रयत्न किया जाता है।

इस त्रिवर्णाचारका दूसरा नाम 'धर्म-रसिक' ग्रंथ भी है और यह तेरह अध्यायों में विभाजित है। इसके कर्ता सोमसेन, यद्यपि, अनेक पद्यों में अपने को 'मुनि', 'गणी' और 'मुनीन्द्र' तक लिखते हैं * परन्तु वे वास्तव में उन आधुनिक भट्टारकों में से थे जिन्हें शिथिलाचारी और परिग्रहधारी साधु अथवा श्रमणाभास कहते हैं। और इसलिये उनके विषय में बिना किसी संदेह के यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे पूर्णरूप से श्रावक की ७ वीं प्रतिमा के भी धारक थे। उन्होंने अपने को पुष्कर गच्छ के भट्टारक गुणभद्रसूरिका पट्टशिष्य लिखा है और साथ ही महेन्द्रकीर्ति गुरु का जिस रूप से उल्लेख किया है उससे यह जान पड़ता है कि वे इनके विद्या गुरु थे। भट्टारक सोमसेनजी कब हुए हैं और उन्होंने किस सन् सम्वत् में इस ग्रंथ की रचना की है, इसका अनुसन्धान करने के लिये कहीं दूर जाने की ज़रूरत नहीं है। स्वयं भट्टारकजी ग्रंथ के अंत में लिखते हैं—

---

* यथा:—

···श्रीभट्टारक सोमसेन मुनिभिः ···॥ २-११५ ॥

···श्रीभट्टारक सोमसेन गणिना···॥ ४-२१७ ॥

···पुण्याब्धिश्रेष्ठैः सोमसेनैर्मुनीन्द्रैः···॥ ६-११८ ॥

अब्दे तत्त्वरसर्तुचन्द्रकलिते श्रीविक्रमादित्यजे
मासे कार्तिकनामनीह धवले पक्षे शरत्संभवे ।
वारेभास्वति सिद्धनामनि तथा योगेसुपूर्णातिथौ ।
नक्षत्रेऽश्विनिनाम्नि धर्मरसिको ग्रन्थश्च पूर्णीकृतः ॥२१७॥

अर्थात्-यह धर्म रसिक ग्रंथ विक्रम सं० १६६५ में कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को रविवार के दिन सिद्ध योग और अश्विनी नक्षत्र में बनाकर पूर्ण किया गया है ।

इस ग्रंथ के पहले अध्याय में एक प्रतिज्ञा-वाक्य निम्न प्रकार से दिया हुआ है—

यत्प्रोक्तं जिनसेनयोग्यगणिभिः सामन्तभद्रैस्तथा ।
सिद्धान्तेगुणभद्रनाममुनिभिर्भट्टाकलंकैः परैः
श्रीसूरिद्विजनामधेय विबुधैराशाधरैर्वाग्वरै—
स्तद्दृष्ट्वा रचयामि धर्मरसिकंशास्त्रंत्रिवर्णात्मकम् ॥६॥

अर्थात्—जिनसेनगणी, समंतभद्राचार्य, गुणभद्रमुनि, भट्टाकलंक, विबुध ब्रह्मसूरि और पं० आशाधर ने अपने २ ग्रंथों में जो कुछ कहा है उसे देखकर मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य नाम के तीन वर्णों का आचार बतलाने वाला यह 'धर्मरसिक' नामका शास्त्र रचता हूँ ।

ग्रंथ के शुरू में इस प्रतिज्ञा वाक्य को देखते ही यह मालूम होने लगता है कि इस ग्रंथ में जो कुछ भी कथन किया गया है वह सब उक्त विद्वानों के ही वचनानुसार—उनके ही ग्रंथों को देखकर—किया गया है । परन्तु ग्रंथके कुछ पत्र पलटने पर उसमें एक जगह ज्ञानार्णव ग्रंथ के अनुसार, जो कि शुभचंद्राचार्य का बनाया हुआ है, ध्यान का कथन करने की और दूसरी जगह भट्टारक एकसंधि कृत संहिता (जिनसंहिता) के अनुसार होमकुण्डों का लक्षण कथन करने की प्रतिज्ञाएँ भी पाई जाती हैं । यथा—

" ध्यानं तावदहं वदामिविदुषांज्ञानार्णवे यन्मतम् ॥१—२८ ॥ "

" लक्षणं होमकुण्डानां वक्ष्ये शास्त्रानुसारतः ।
भट्टारकैकसंधेश्च दृष्ट्वा निर्मलसंहिताम् ॥ ४—१०४ ॥

इसके सिवाय कहीं २ पर खास तौर से ब्रह्मसूरि, अथवा जिन-सेनाचार्य के महापुराण के अनुसार कथन करने की जो पृथक रूप से प्रतिज्ञा या सूचना की गई है उसे पहली प्रतिज्ञा के ही अंतर्गत अथवा उसी का विशेष रूप समझना चाहिये, ऐसी एक सूचना तथा प्रतिज्ञा नीचे दी जाती है —

श्रीब्रह्मसूरिद्विजवंशरत्नं श्रीजैनमार्गप्रविबुद्धतत्त्वः
वाचंतु तस्यैवविलोक्यशास्त्रंकृतंविशेषान्मुनिसोमसेनैः॥३-१५० ॥
जिनसेनमुनिं नत्वा वैवाहविधिमुत्तमम् ।
वक्ष्येपुराणमार्गेण लौकिकाचारसिद्धये ॥ ११—२ ॥

इन सब प्रतिज्ञा वाक्यों और सूचनाओं से ग्रंथ कर्ता ने अपने पाठकों को दो बातों का विश्वास दिलाया है—

( १ ) एक तो यह कि, यह त्रिवर्णाचार कोई संग्रह ग्रंथ नहीं है बल्कि अनेक जैनग्रंथों को देखकर उनके आधार पर इसकी स्वतंत्र रचना कीगई है।*

( २ ) दूसरे यह कि इस ग्रंथ में जो कुछ लिखा गया है वह उक्त जिनसेनादि छहों विद्वानों के अनुसार तथा जैनागम के अनुकूल

---

* ग्रन्थ के नाम से भी यह कोई संग्रह ग्रन्थ मालूम नहीं होता और न इसकी संधियों में ही इसे संग्रह ग्रन्थ प्रकट किया गया है। एक संधि नमूने के तौर पर इस प्रकार है—

इति श्री धर्मरसिक शास्त्रे त्रिवर्णाचार निरूपके भट्टारक श्री सोमसेन विरचिते स्नानवस्त्राचमन संध्या तर्पण वर्णनो नाम तृतीयोऽध्यायः।

लिखा गया है और जहाँ कहीं दूसरे ( शुभचन्द्रादि ) विद्वानों के ग्रंथानुसार कुछ कहा गया है वहाँ पर उन विद्वानों अथवा उनके ग्रंथों का नाम देदिया गया है।

परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। ग्रंथ को परीक्षादृष्टि से अवलोकन करने पर मालूम होता है कि यह ग्रंथ एक अच्छा खासा संग्रह ग्रंथ है, इसमें दूसरे विद्वानों के ढेर के ढेर वाक्यों को ज्यों का त्यों उठा कर या उनमें कहीं कहीं कुछ साधारणसा अथवा निरर्थकसा परिवर्तन करके रक्खा गया है, वे वाक्य ग्रंथ के प्रतिपाद्य विषय को पुष्ट करने के लिये 'उक्तं च' आदि रूप से नहीं दिये गये, बल्कि वैसे ही ग्रंथ का अंग बना कर अपनाये गये हैं और उनको देते हुए उनके लेखक विद्वानों का या उन ग्रंथों का नाम तक भी नहीं दिया है, जिनसे उठाकर उन्हें रक्खा है। शायद पाठक यह समझें कि ये दूसरे विद्वान् वेही होंगे, जिनका उक्त प्रतिज्ञा-वाक्यों में उल्लेख किया गया है। परन्तु ऐसा नहीं है—उनके अतिरिक्त और भी बीसियों विद्वानों के शब्दों से ग्रंथ का कलेवर बढ़ाया गया है और वे विद्वान् जैन ही नहीं किन्तु अजैन भी हैं। अजैनों के बहुत से साहित्य पर हाथ साफ़ किया गया है और उसे दुर्भाग्य से जैन साहित्य प्रकट किया गया है, यह बड़े ही खेद का विषय है। इस व्यर्थ की उठा धरी के कारण ग्रंथ की तरतीब भी ठीक नहीं बैठसकी—वह कितने ही स्थानों पर स्खलित अथवा कुछ बेढंगेपन को लिये हुए होगई है और साथ में पुनरुक्तियाँ भी हुई हैं। इसके सिवाय, कहीं २ पर उन विद्वानों के विरुद्ध भी कथन किया गया है जिनके वाक्यानुसार कथन करने की प्रतिज्ञा अथवा सूचना की गई है और बहुतसा कथन जैन सिद्धांत के विरुद्ध अथवा जैनादर्श से गिरा हुआ भी इसमें पाया जाता है। इस तरह पर यह ग्रंथ एक बड़ा ही विचित्र ग्रंथ जान पड़ता है और 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानमती ने कुनबा जोड़ा' वाली

कहावत को भी कितने ही अंशों में चरितार्थ करता है। यद्यपि यह ग्रंथ उक्त जिनसेन त्रिवर्णाचारादि की तरह का जाली ग्रंथ नहीं है-इसकी रचना प्राचीन बड़े आचार्यों के नाम से नहीं हुई—फिर भी यह अर्धजाली ज़रूर है और इसे एक मान्य जैन ग्रंथ के तौर पर स्वीकार करने में बहुत बड़ा संकोच होता है। नीचे इन्हीं सब बातों का दिग्दर्शन कराया जाता है, जिससे पाठकों को इस ग्रन्थ के विषय में अपनी ठीक सम्मति स्थिर करने का अवसर मिल सके।

सब से पहले मैं अपने पाठकों को यह बतला देना चाहता हूँ कि उक्त प्रतिज्ञा पद्य नं० ६ में जिन विद्वानों के नाम दिये गये हैं उनमें 'भट्टाकलंक' से अभिप्राय राजवार्तिक के कर्ता भट्टाकलंक देव से नहीं है बल्कि अकलंक-प्रतिष्ठापाठ ( प्रतिष्ठातिलक ) आदि के कर्ता दूसरे भट्टाकलंक से है जिन्होंने अपने को 'भट्टाकलंकदेव' भी लिखा है और जो विक्रम की प्रायः १६ वीं शताब्दी के विद्वान थे *। और 'गुणभद्र' मुनि संभवतः वेही भट्टारक गुणभद्र जान पड़ते हैं, जो ग्रंथकर्ता के पट्ट गुरु थे। गुणभद्र भट्टारक के बनाये हुए 'पूजाकल्प' नामक एक ग्रंथ का उल्लेख भी 'दिगम्बर जैन ग्रंथकर्ता और उनके ग्रंथ' नामक सूची में पाया जाता है। होसकता है कि इस ग्रंथ के आधार

---

* इस त्रिवर्णाचार में जिनसेन आदि दूसरे विद्वानों के वाक्यों का जिस प्रकार से उल्लेख पाया जाता है, उस प्रकार से राजवार्तिक के कर्ता भट्टाकलंक देव के बनाये हुए किसी भी ग्रंथ का प्रायः कोई उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, अकलंक प्रतिष्ठापाठ के कितने ही कथनों के साथ त्रिवर्णाचार के कथनों का मेल तथा सादृश्य ज़रूर है और कुछ पद्यादिक दोनों ग्रंथों में समान रूप से भी पाये जाते हैं। इससे उक्त पद्य में 'भट्टाकलंकैः' पद का वाच्य क्या है, यह बहुत कुछ स्पष्ट होजाता है।

पर भी प्रकृत त्रिवर्णाचार में कुछ कथन किया गया है और इसके भी वाक्यों को बिना नाम धाम के उठा कर रक्खा गया है। परन्तु मुझे गुणभद्र मुनि के किसी भी ग्रंथ के साथ इस ग्रंथ के साहित्य को जाँचने का अवसर नहीं मिल सका और इसलिये मैं उनके ग्रंथ विषय का यहाँ कोई उल्लेख नहीं कर सकूँगा। बाक़ी चार विद्वानों में से जिनसेनाचार्य तो 'आदिपुराण' के कर्ता, स्वामी समन्तभद्र 'रत्नकरण्डक' श्रावकाचार के प्रणेता, पं० आशाधर 'सागार धर्मामृत' आदि के रचयिता और विदुष ब्रह्मसूरि 'ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार' अथवा 'जिनसंहितासारोद्धार' के विधाता हुए हैं जिसका दूसरा नाम 'प्रतिष्ठातिलक' भी है। आशाधर की तरह ब्रह्मसूरि भी गृहस्थ विद्वान थे और उनका समय विक्रम की प्रायः १५वीं शताब्दी पाया जाता है। ये जैन धर्मानुयायी ब्राह्मण थे। सोमसेन ने भी **'श्रीब्रह्मसूरिद्विजवंशरत्नं', 'ब्रह्मसूरिसुविप्रेण,' 'श्रीब्रह्मसूरिवरविप्रकवीश्वरेण'** आदि पदों के द्वारा इन्हें ब्राह्मण वंश का प्रकट किया है। इनके पिता का नाम 'विजयेन्द्र' और माता का 'श्री' था। इनके एक पूर्वज गोविन्द भट्ट, जो वेदान्तानुयायी ब्राह्मण थे, स्वामी समन्तभद्र के 'देवागम' स्तोत्र को सुनकर जैनधर्म में दीक्षित होगये थे †। उसी वक्त से इनके वंश में जैनधर्म की बराबर मान्यता चली आई है, और उसमें कितने ही विद्वान हुए हैं।

ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार को देखने से ऐसा मालूम होता है कि ब्रह्मसूरि के पूर्वज जैनधर्म में दीक्षित होने के समय हिन्दूधर्म के कितने ही संस्कारों को अपने साथ लाये थे, जिनको उन्होंने स्थिर ही नहीं रक्खा बल्कि उन्हें जैन का लिबास पहिनाने और त्रिवर्णाचार जैसे ग्रंथों द्वारा उनका जैनसमाज में प्रचार करने का भी आयोजन किया है। संभव है देश-काल की परिस्थिति ने भी उन्हें वैसा करने के लिये

---

† देखो उक्त 'जिनसंहितासारोद्धार' की प्रशस्ति।

मजबूर किया हो—उस वक्त ब्राह्मण लोग जैन द्विजों अथवा जैनधर्म में दीक्षितों को 'वर्णान्तः पाती' और संस्कारविहीनों को 'शूद्र' तक कहते थे; आश्चर्य नहीं जो यह बात नव दीक्षितों को—खास कर विद्वानों को—असह्य हो उठी हो और उसके प्रतीकार के लिये ही उन्होंने अथवा उनसे पूर्व दीक्षितों ने उपर्युक्त आयोजन किया हो। परंतु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि उस वक्त दक्षिण भारत में इस प्रकार के साहित्य की—संहिता शास्त्रों, प्रतिष्ठा पाठों और त्रिवर्णाचारों की—बहुत कुछ सृष्टि हुई है। एक संधि भ० जिन संहिता, इन्द्रनन्दि संहिता, नेमिचंद्र * संहिता, भद्रबाहु संहिता, आशाधर प्रतिष्ठापाठ, अकलंक प्रतिष्ठा पाठ और जिनसेन त्रिवर्णाचार आदि बहुत से ग्रंथ उसी वक्त के बने हुए हैं। इस प्रकार के सभी उपलब्ध ग्रंथों की सृष्टि विक्रम की प्रायः दूसरी सहस्राब्दी में पाई जाती है—विक्रम की पहली सहस्राब्दी (दसवीं शताब्दी तक) का बना हुआ वैसा एक भी ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ—और इससे यह जाना जाता है कि ये ग्रंथ उस ज़माने की किसी खास हलचल के परिणाम हैं और इनके कितने ही नूतन विषयों का, जिन्हें खास तौर से लक्ष्य में रखकर ऐसे ग्रंथों की सृष्टि की गई है, जैनियों के प्राचीन साहित्य के साथ प्रायः कोई सम्बन्ध विशेष नहीं है। अस्तु,

## ग्रन्थका संग्रहत्व।

(१) इस त्रिवर्णाचार में सब से अधिक संग्रह यदि किसी ग्रंथ का किया गया है तो वह ब्रह्मसूरि का उक्त त्रिवर्णाचार ही है। सोमसेन ने अपने त्रिवर्णाचार की श्लोक संख्या, ग्रंथके अंत में, २७०० दी है और यह संख्या ३२ अक्षरों की श्लोक गणना के अनुसार

---

* नेमिचंद्र संहिताके रचयिता 'नेमिचंद्र' भी एक गृहस्थ विद्वान थे और वे ब्रह्मसूरि के भानजे थे। देखो 'नेमिचंद्र संहिता' की प्रशस्ति अथवा जैन हितैषी के १२ वें भाग का अंक नं० ४-५.

जान पड़ती है। परन्तु वैसे, ग्रंथ की पद्य संख्या २०४६ है और बाक़ी का उसमें मंत्र भाग है जो ५५० या ६०० श्लोकों के करीब होगा। कुछ अपवादों को छोड़ कर, यह सारा मंत्र भाग ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार से उठाकर—ज्यों का त्यों अथवा कहीं कहीं कुछ बदलकर—रक्खा गया है। रही पद्यों की बात, उनका जहाँ तक मुक़ाबला किया गया उससे मालूम हुआ कि इस ग्रन्थ में १६९ पद्य तो ऐसे हैं जो प्रायः ज्यों के त्यों और १७७ पद्य ऐसे हैं जो कुछ परिवर्तन के साथ ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार से उठा कर रक्खे गये हैं। इस तरह पर ग्रंथ का कोई एकतिहाई भाग ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार से लिया गया है और उसे ज़ाहिर में अपनी रचना प्रकट किया गया है। इस ग्रन्थ-संग्रह के कुछ नमूने इस प्रकार हैं :—

**( क ) ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे हुए पद्य।**

सुखं वांछन्ति सर्वेऽपि जीवा दुःखं न जातुचित्।
तस्मात्सुखैषिणो जीवाः संस्काराय।भिसम्मताः ॥ २-७ ॥

एवं दशाहपर्यन्तमेतत्कर्म विधीयते।
पिंड तिलोदकं चापि कर्त्ता दद्यात्तदान्वहम् ॥ १३-१७६ ॥

इन पद्यों में से पहला पद्य ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार का ५वाँ और दूसरा पद्य उसके अन्तिम पर्व का १३९ वाँ पद्य है। दूसरे पद्य के आगे पीछे के और भी पचासों पद्य ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार से ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे गये हैं। दोनों ग्रन्थों के अन्तिम भाग ( अध्याय तथा पर्व ) सूतक प्रेतक अथवा जननाशौच और मृताशौच नामके प्रायः एक ही विषय को लिये हुए भी हैं।

**( ख ) परिवर्तन करके रक्खे हुए पद्य।**

कालादिलब्धितः पुंसामन्तःशुद्धिः प्रजायते।
मुख्यापेक्ष्यातु संस्कारो बाह्यशुद्धिमपेक्षते ॥ २-८ ॥

चतुर्थे दिवसे स्नायात्प्रातर्गोसर्गतः पुरा।
पूर्वाह्णेघटिकाषट्कं गोसर्ग इति भाषितः ॥ १३-२२ ॥
शुद्धाभर्तुश्चतुर्थेऽह्निभोजने रन्धनेऽपिवा।
देवपूजा गुरूपास्तिहोमसेवासु पंचमे ॥ १३-२३ ॥

ये पद्य ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार के जिन पद्यों को परिवर्तित करके बनाये गये हैं वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

अन्तःशुद्धिस्तु जीवानां भवेत्कालादिलब्धितः।
एषामुख्यापिसंस्कारे बाह्यशुद्धिरपेक्षते ॥ ७ ॥
रजस्वलाचतुर्थेऽह्नि स्नायाद्गोसर्गतः परं।
पूर्वाह्णे घटिकाषट्कं गोसर्ग इति भाषितः ॥ ८-१३ ॥
तस्मिन्नहनि योग्या स्यादुदक्या गृहकर्मणि।
देवपूजा गुरूपास्तिहोमसेवासु पंचमे ॥ ८-१४ ॥

इन पद्यों का परिवर्तित पद्यों के साथ मुक़ाबला करने से यह सहज ही में मालूम हो जाता है कि पहले पद्य में जो परिवर्तन किया गया है उससे कोई अर्थ-भेद नहीं होता, बल्कि साहित्य की दृष्टि से यह कुछ घटिया ज़रूर हो गया है। मालूम नहीं फिर इस पद्य को बदलने का क्यों परिश्रम किया गया, जब कि इससे पहला **'सुखं-वांछन्ति '** नाम का पद्य ज्यों का त्यों उठाकर रक्खा गया था! इसे भी उसी तरह पर उठाकर रख सकते थे। शेष दोनों पद्यों के उत्तरार्ध ज्यों के त्यों हैं, सिर्फ पूर्वार्ध बदले गये हैं और उनकी यह तबदीली बहुत कुछ भद्दी जान पड़ती है। दूसरे पद्य की तबदीली ने तो कुछ विरोध भी उपस्थित कर दिया है—ब्रह्मसूरि ने चौथे दिन रजस्वला के स्नान का समय पूर्वाह्न की छहघड़ी के बाद कुछ दिन चढ़े रक्खा था; परन्तु ब्रह्मसूरि के अनुसार कथन की प्रतिज्ञा करने वाले सोमसेनजी ने, अपनी इस तबदीली के द्वारा गोसर्ग की उक्त छह घड़ी से पहले रात्रि में ही उसका विधान

कर दिया है। इससे इन पद्यों के परिवर्तन की निरर्थकता स्पष्ट है और साथ ही सोमसेनजी की योग्यता का भी कुछ परिचय मिल जाता है।

## ( ग ) परिवर्तित और अपरिवर्तित मन्त्र।

इस ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में, एक स्थान पर, दशदिक्पालों को प्रसन्न करने के मन्त्र देते हुए, लिखा है:---

ततोऽपि मुकुलितकरकुड्मलः सन् " ॐनमोर्हते भगवते श्री शांतिनाथाय शांतिकराय सर्वविघ्नप्रणाशनाय सर्व— रोगापमृत्युविनाशनाय सर्व परकृत क्षुद्रोपद्रवविनाशनाय मम सर्वशान्तिर्भवतु " इत्युच्चार्य—

इसके बाद-'**पूर्वस्यां दिशि इन्द्रः प्रसीदतु, आग्नेयां दिशि अग्निः प्रसीदतु, दक्षिणस्यां दिशि यमः प्रसीदतु**' इत्यादि रूप से वे प्रसन्नता सम्पादन कराने वाले दसों मन्त्र दिये हैं। ये सब मन्त्र वेही हैं जो ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार में भी दिये हुए हैं, सिर्फ़ '**उत्तरस्यां दिशि कुबेरः प्रसीदतु**' नामक मन्त्र में **कुबेरः** की जगह यहाँ '**यक्षः**' पद का परिवर्तन पाया जाता है। परन्तु इन मन्त्रों से पहले '**ततोऽपिमुकुलितकरकुड्मलः सन्**' और '**इत्युच्चार्य**' के मध्य का जो मंत्र पाठ है वह ब्रह्मसूरि त्रिवर्णाचार में निम्न प्रकार से दिया हुआ है:-

ॐ नमोर्हते श्रीशांतिनाथाय शांतिकराय सर्व शांतिर्भवतु स्वाहा। *

---

* इस मंत्र में जिन विशेषण पदों को बढ़ाकर इसे ऊपर का रूप दिया गया है उसे सोमसेनजी के उस विशेष कथन का एक नमूना समझना चाहिये जिसकी सूचना उन्होंने अध्याय के अन्त में निम्न पद्य द्वारा की है—

श्री ब्रह्मसूरि द्विजवंश रत्नं श्री जैनमार्ग प्रतिबुद्धतत्त्वः।
वाचंतु तस्यैव विलोक्य शास्त्रं कृतं विशेषान्मुनिसोमसेनैः॥

इस प्रदर्शन से यह स्पष्ट जाना जाता है कि सोमसेनजी इन क्रिया मंत्रों को ऐसे आर्ष मंत्र नहीं समझते थे जिनके अक्षर जँचेतुले अथवा गिने चुने होते हैं और जिनमें अक्षरों की कमी बेशी आदि के कारण कितनी ही बिडम्बना होजाया करती है अथवा यों कहिये कि यथेष्ट फल संघटित नहीं होसकता। वे शायद इन मंत्रों को इतना साधारण समझते थे कि अपने जैसों को भी उनके परिवर्तन का अधिकारी मानते थे। यही वजह है जो उन्होंने उक्त दोनों मंत्रों में और इसी तरह और भी बहुत से मंत्रों में अपनी इच्छानुसार तबदीली अथवा न्यूनाधिकता की है, जिस सबको यहाँ बतलाने की आवश्यकता नहीं है। मंत्रों का भी इस ग्रंथ में कुछ ठिकाना नहीं—अनेक देवताओं के पूजा मंत्रों को छोड़कर, नहाने, धोने, कुल्ला दाँतन करने, खाने, पीने, वस्त्र पहनने, चलने फिरने, उठने बैठने और हगने मूतने आदि बात बात के मंत्र पाये जाते हैं—मंत्रों का एक खिलसा नजर आता है—और उनकी रचना का ढंग भी प्रायः बहुत कुछ सीधा सादा तथा आसान है। ॐ, ह्रीं, अर्हं स्वाहा आदि दो चार अक्षर इधर उधर जोड़ कर और कहीं कहीं कुछ विशेषण पद भी साथ में लगाकर संस्कृत में वह बात कहदीगई है जिस विषय का कोई मंत्र है। ऐसे कुछ मंत्रों का सारांश यदि हिन्दी में दे दिया जाय तो पाठकों को उन मंत्रों की जाति तथा प्रकृति आदि के समझने में बहुत कुछ सहायता मिलेगी। अतः नीचे ऐसे ही कुछ मंत्रों का हिन्दी में दिग्दर्शन कराया जाता है—

१ ॐ ह्रीं, हे यहाँ के क्षेत्रपाल! क्षमा करो, मुझे मनुष्य जानो, इस स्थान से चले जाओ, मैं यहाँ मल मूत्र का त्याग करता हूँ, स्वाहा।

२ ॐ. इन्द्रों के मुकुटों की रत्नप्रभा से प्रक्षालित पाद पद्म अर्हन्तभगवान को नमस्कार, मैं शुद्ध जल से पैर धोता हूँ, स्वाहा।

३ ॐ ह्रीं ह्रीं ..., मैं हाथ धोता हूँ, स्वाहा।

४ ऊँ ह्रीं द्वीं क्ष्वीं, मैं मुँह धोता हूँ, स्वाहा।

५ ऊँ परम पवित्राय, मैं दन्तधावन (दाँतन कुल्ला) करता हूँ, स्वाहा।

६ ऊँ ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हं असिआउसा, मैं स्नान करता हूँ, स्वाहा।

७ ऊँ ह्रीं, संसार सागर से निकले हुए अर्हन्त भगवान को नमस्कार, मैं पानी से निकलता हूँ, स्वाहा।

८ ऊँ ह्रीं द्वीं क्ष्वीं अर्हं हं सः परम पावनाय, मैं वस्त्र पवित्र करता हूँ, स्वाहा।

९ ऊँ, हे श्वेतवर्ण वाली, सर्व उपद्रवों को हरने वाली, सर्व महाजनों का मनोरंजन करने वाली, धोती दुपट्टा धारण करने वाली हं भं वं मं सं तं मैं धोती दुपट्टा धारण करता हूँ स्वाहा।

१० ऊँ भूर्भुवः स्वः असिआउसा, मैं प्राणायाम करता हूँ, स्वाहा।

११ ऊँ ह्रीं ...,मैं सिरके ऊपर पानी के छींटे देता हूँ, स्वाहा।

१२ ऊँ ह्रीं ....मैं चुल्लू में पानी लेता हूँ, स्वाहा।

१३ ऊँ ह्रीं ,मैं चुल्लू का अमृत ( जल ) पीता हूँ, स्वाहा।

१४ ऊँ ह्रीं अर्हं, मैं किवाड़ खोलता हूँ, स्वाहा।

१५ ऊँ ह्रीं अर्हं मैं द्वारपालको(भीतर जाने की)सूचना देताहूँ,स्वाहा।

१६ ऊँ ह्रीं, अर्हं ,मैं मंदिर में प्रवेश करता हूँ, स्वाहा।

१७ ऊँ ह्रीं, मैं मुख वस्त्र को उघाड़ता हूँ, स्वाहा।

१८ ऊँ ह्रीं, अर्हं, मैं यागभूमि में प्रवेश करता हूँ, स्वाहा।

१९ ऊँ ह्रीं, मैं बाजा बजाता हूँ, स्वाहा।

२० ऊँ ह्रीं...मैं पृथ्वी को पानी से धोकर शुद्ध करता हूँ, स्वाहा।

२१ ऊँ ह्रीं अर्हं क्षां ठ ठ, मैं दर्भासन बिछाता हूँ, स्वाहा।

२२ ऊँ ह्रीं अर्हं निस्सही हूँ फट् मैं दर्भासन पर बैठता हूँ, स्वाहा।

२३ ऊँ ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः, श्री अर्हन्त भगवान को नमस्कार, मैं शुद्ध जल से बरतन धोता हूँ, स्वाहा।

२४ ॐ ह्रीं अर्हं ... मैं पूजा के द्रव्य को धोता हूँ स्वाहा।

२५ ॐ ह्रीं अर्हं ...., मैं हाथ जोड़ता हूँ. स्वाहा।

२६ ॐ ह्रीं स्वस्तये, मैं कलश उठाता हूँ, स्वाहा।

२७ ॐ ॐ ॐ ॐ रं रं रं रं, मैं दर्भ डालकर आग जलाता हूँ स्वाहा।

२८ ॐ ह्रीं मैं पवित्र जलसे द्रव्य शुद्धि करता हूँ, स्वाहा।

२९ ॐ ह्रीं, मैं कुश ग्रहण करता हूँ, स्वाहा।

३० ॐ ह्रीं, मैं पवित्र गंधोदक को सिर पर लगाता हूँ, स्वाहा।

३१ ॐ ह्रीं..., मैं बालक को पालने में झुलाता हूँ, स्वाहा।

३२ ॐ ह्रीं अर्हं असिआउसा, मैं बालक को बिठलाता हूँ, स्वाहा।

३३ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं, मैं बालक के कान नाक बींधता हूँ, असि आ उ सा स्वाहा।

३४ ॐ मुक्ति शक्ति के देने वाले अर्हन्त भगवान को नमस्कार मैं बालक को भोजन कराता हूँ ...स्वाहा।

३५ ॐ ......, मैं बालक को पैर धरना सिखलाता हूँ, स्वाहा।

प्रायः ये सभी मंत्र ब्रह्मसूरि-त्रिवर्णाचार में भी पाये जाते हैं और वहीं से उठाकर यहाँ रक्खे गये मालूम होते हैं। परंतु किसी २ मंत्र में कुछ अक्षरों की कमी बेशी अथवा तबदीली जरूर पाई जाती है और इससे उस विचार को और भी ज्यादा पुष्टि मिलती है जो ऊपर जाहिर किया गया है। साथ ही, यह मालूम होता है कि ये मंत्र जैन-समाज के लिये कुछ अधिक प्राचीन तथा रूढ नहीं हैं और न उसकी व्यापक प्रकृति या प्रवृत्ति के अनुकूल ही जान पड़ते हैं। कितने ही मंत्रों की सृष्टि-उनकी नवीन कल्पना—भट्टारकी युग में हुई है और यह बात आगे चलकर स्पष्ट की जायगी।

( २ ) पं० आशाधर के ग्रंथों से भी कितने ही पद्य, इस त्रिवर्णाचार में, बिना नाम धाम के संग्रह किये गये हैं। छठे अध्याय में २२

और दसवें अध्याय में १३ पद्य सागार धर्मामृत से लिये गये हैं। इनमें से छठे अध्याय के दो पद्यों को छोड़कर, जिनमें कुछ परिवर्तन किया गया है, शेष ३२ पद्य ऐसे हैं जो इन अध्यायों में ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे गये हैं। अनगारधर्मामृत से भी कुछ पद्य लिये गये हैं और आशाधर–प्रतिष्ठापाठ से भी कितने ही पद्यों का संग्रह किया गया है। छठे अध्याय के ११ पद्यों का आशाधर–प्रतिष्ठा पाठ के साथ जो मुक्काबला किया गया तो उन्हें ज्यों का त्यों पाया गया। इन पद्यों के कुछ नमूने इस प्रकार हैं:—

योग्य कालासनस्थानमुद्राऽऽवर्तशिरोनतिः।
विनयेन यथाजातः कृतिकर्मामलं भजेत् ॥१–६३॥
किमिच्छकेन दानेन जगदाशा प्रपूर्य यः।
चाक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्यज्ञो कल्पद्रुमो मतः ॥ ६–७१ ॥
जाती पुष्पसहस्राणि जप्त्वा द्वादश लक्षशः।
विधिनादत्त होमस्य विद्या सिद्ध्यति वर्णिनः ॥ ६–४ ॥

इनमें से पहला पद्य अनगारधर्मामृत के ८वें अध्याय का ७८ वाँ, दूसरा पद्य सागारधर्मामृत के दूसरे अध्याय का २८ वाँ और तीसरा पद्य आशाधर–प्रतिष्ठापाठ ( प्रतिष्ठासारोद्धार ) के प्रथमाध्याय का १३ वाँ पद्य है। प्रतिष्ठापाठ के अगले नं० १४ से २४ तक के पद्य भी यहाँ एक स्थान पर ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे गये हैं।

जीविते मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये।
बन्ध्वावरौ सुखे दुःखे सर्वदा समता मम ॥ १–६४॥

यह अनगारधर्मामृत के आठवें अध्याय का २७ वाँ पद्य है। इसका चौथा चरण यहाँ बदला हुआ है–'**साम्यमेवाभ्युपैम्यहम्**' की जगह '**सर्वदा समता मम**' ऐसा बनाया गया है। मालूम नहीं इस परिवर्तन की क्या जरूरत पैदा हुई और इसने कौनसी विशेषता

उत्पन्न की। बल्कि नियतकालिक सामायिक के अनुष्ठान में '**सर्वदा**' शब्द का प्रयोग कुछ खटकता जरूर है।

मद्यमांसमधून्युज्झेत्पंचक्षीरफलानि च।
अष्टैतान् गृहिणां मूलगुणान् स्थूलवधाद्विदुः॥ ६-१६४॥

यह पद्य सागर-धर्मामृत के दूसरे अध्याय के पद्य नं० २ और नं० ३ बनाया गया है। इसका पूर्वार्ध पद्य नं० २ का उत्तरार्ध और उत्तरार्ध पद्य नं० ३ का पूर्वार्ध है। साथ ही '**स्थूलवधादि वा**' की जगह यहाँ '**स्थूलवधाद्विदुः**' ऐसा परिवर्तन भी किया गया है। सागार-धर्मामृत के उक्त पद्य नं० २ का पूर्वार्ध है '**तत्रादौ श्रद्दधज्जैनीमाज्ञां हिंसामपासितुं**' और पद्य नं० ३ का उत्तरार्ध है '**फलस्थाने स्मरेद् द्यूतं मधुस्थान इहैव वा।** ये दोनों पद्य १० वें अध्याय में ज्यों के त्यों उद्धृत भी किये गये हैं और वहाँ पर अष्टमूल गुणों का विशेष रूप से कथन भी किया गया है, फिर नहीं मालूम यहाँ पर यह अष्टमूल गुणों का कथन दोबारा क्यों किया गया है और इससे क्या लाभ निकाला गया। प्रकरण तो यहाँ त्याज्य अन्न अथवा भोजन का था—कोल्हापुर की छपी हुई प्रति में '**अथ त्याज्याम्न**' ऐसा उक्त पद्य से पहले लिखा भी है—और उसके लिये इन आठ बातों का कथन उन्हें अष्टमूल गुण की संख्या न देते हुए भी किया जा सकता था और करना चाहिये था—खासकर ऐसी हालत में जब कि इनके त्याग का मूलगुण रूप से आगे कथन करना ही था। इसके सिवाय दूसरे '**रागजीववधापाय**' * नामक पद्य में जो परिवर्तन किया गया है यह बहुत ही साधारण है। उसमें '**रात्रिभक्तं**' की जगह '**रात्रौभुक्तिं**' बनाया गया है और यह बिलकुल ही निरर्थक परिवर्तन जान पड़ता है।

---

* यह सागार-धर्मामृत के दूसरे अध्याय का १४ वाँ पद्य है और सोमसेन-त्रिवर्णाचार के छठे अध्याय में नं० २०१ पर दर्ज है।

( ३ ) इस ग्रंथ के दसवें अध्याय में रत्नकरण्ड-श्रावकाचार के 'विषयाशावशातीतो' आदि सात पद्य तो ज्यों के त्यों और पाँच पद्य कुछ परिवर्तन के साथ संग्रह किये गये हैं। परिवर्तित पद्यों में से पहला पद्य इस प्रकार है।

अष्टांगैः पालितं शुद्धं सम्यक्त्वं शिवदायकम्।
न हि मंत्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥ २८ ॥

यह पद्य रत्नकरण्ड श्रावकाचार के २१ वें पद्य रूपान्तर है। इसका उत्तरार्ध तो वही है जो उक्त २१ वें पद्य का है, परन्तु पूर्वार्ध को बिलकुल ही बदल डाला है और यह तबदीली साहित्य की दृष्टि से बड़ी ही भद्दी मालूम होती है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार के २१ वें पद्यका पूर्वार्ध है—

**नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसन्ततिम्।**

पाठकजन देखें, इस पूर्वार्ध का उक्त पद्य के उत्तरार्ध से कितना गहरा सम्बन्ध है। यहाँ सम्यग्दर्शन की अंगहीनता जन्मसंतति को नाश करने में असमर्थ है और वहाँ उदाहरण में मंत्र की अक्षरन्यूनता विषवेदना को दूर करने में अशक्त है—दोनों में कितना साम्य, कितना सादृश्य और कितनी एकता है, इसे बतलाने की ज़रूरत नहीं। परन्तु खेद है कि भट्टारकजी ने इसे नहीं समझा और इसलिये उन्होंने रत्न के एक टुकड़े को अलग करके उसकी जगह काच जोड़ा है जो बिलकुल ही बेमेल तथा बेडौल मालूम होता है। दूसरे चार पद्यों की भी प्रायः ऐसी ही हालत है—उनमें जो परिवर्तन किया गया है वह व्यर्थ जान पड़ता है। एक पद्य में तो **'महाकुलाः'** की जगह **उत्तम-कुलाः'** बनाया गया है, दूसरे में **'ज्ञेयं पाखण्डिमोहनं'** को **'ज्ञेया-पाखण्डिमूढता'** का रूप दिया गया है, तीसरे में **'स्मयमाहुर्ग-तस्मयाः'** की जगह **'श्रीयते तन्मदाष्टकम्'** यह चौथा चरण क़ायम किया गया है और चौथे पद्य में **'दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते'**

के स्थान पर '**विद्यन्ते कामदा नित्यम्**' यह नवीन पद जोड़ा गया है और इससे मूलका प्रतिपाद्य विषय भी कुछ कम होगया है।

( ४ ) श्रीजिनसेनाचार्यप्रणीत आदिपुराण से भी कितने ही पद्य उठाकर इस ग्रंथ में रक्खे गये हैं, जिनमें से दो पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं—

व्रतचर्यामहं वक्ष्ये क्रियामस्योपबिभ्रतः।
कट्यूरुरः शिरोलिंगमनूचानव्रतोचितम्॥ ६-६७॥
वस्त्राभरणमाल्यादिग्रहणं गुर्वनुज्ञया।
शस्त्रोपजीविवर्ग्यश्चेद्धारयेच्छस्त्रमप्ययं॥ ६-८०॥

इनमें से पहला पद्य तो आदिपुराण के ३८ वें पर्व का १०९ वाँ पद्य है—इसके आगे के और भी कई पद्य ऐसे हैं जो ज्यों के त्यों उठाकर रक्खे गये हैं और दूसरा उसी पर्व के पद्य नं० १२५ के उत्तरार्ध और नं० १२६ के पूर्वार्ध को मिलाकर बनाया गया है। पद्य नं० १२५ का पूर्वार्ध और नं० १२६ का उत्तरार्ध क्रमशः इस प्रकार हैं—

कृतद्विजार्चनस्यास्य व्रतावतरणोचितम्॥ पू० १२५॥
स्ववृत्तिपरिरक्षार्थं शोभार्थं चास्य तद्ग्रहः॥ उ० १२६॥

मालूम नहीं दोनों पद्यों के इन अंशों को क्यों छोड़ा गया और उसमें क्या लाभ सोचा गया। इस व्यर्थ की छोड़ छाड़ तथा काट छाँट का ही यह परिणाम है जो यहाँ व्रतावतरण क्रिया के कथन में उस सार्वकालिक व्रत का कथन छूट गया है जो आदिपुराण के '**मद्यमांस परित्यागः**' नामक १२३ वें पद्य में दिया हुआ है*। और इसलिये

---

* 'व्रतावतरणं चेदं' से पहले आदिपुराण का यह १२३ वाँ पद्य इस प्रकार है—

मद्यमांसपरित्यागः पंचोदुम्बरवर्जनम्।
हिंसादिविरतिश्चास्य व्रतं स्यात्सार्वकालिकम्॥

उक्त ८० वें पद्य से पहले आदिपुराण का जो १२४ वाँ पद्य उद्धृत किया गया है वह एक प्रकार से बेढंगा तथा असंगत जान पड़ता है। वह पद्य इस प्रकार है—

व्रतावतरणं चेदं गुरुसाक्षिकृतार्चनम् ।
वत्सरात् द्वादशादूर्ध्वमथवा षोडशात्परम् ॥६-७६॥

इसमें 'इदं' शब्द का प्रयोग बहुत खटकता है और वह पूर्वकथन को '**व्रतावतरण**' क्रिया का कथन बतलाता है परन्तु ग्रन्थ में वह '**व्रतचर्या**' का कथन है और '**व्रतचर्यामहं वक्ष्ये**' इस ऊपर उद्धृत किये हुए पद्य से प्रारम्भ होता है। अतः भट्टारकजी की इस काट छाँट और उठाई धरी के कारण दो क्रियाओं के कथन में कितना गोलमाल होगया है, इसका अनुभव विज्ञ पाठक स्वयं कर सकते हैं और साथ ही यह जान सकते हैं कि भट्टारकजी काट छाँट करने में कितने निपुण थे।

( ५ ) श्रीशुभचन्द्राचार्य-प्रणीत 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ से भी इस त्रिवर्णाचार में कुछ पद्यों का संग्रह किया गया है। पहले अध्याय के पाँच पद्यों को जाँचने से मालूम हुआ कि उनमें से तीन पद्य तो ज्यों के त्यों और दो कुछ परिवर्तन के साथ उठा कर रक्खे गये हैं। ऐसे पद्यों में से एक एक पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार है:—

**चतुर्वर्णमयं मंत्रं चतुर्वर्गफलप्रदम् ।**
**चतूरात्रं जपेद्योगी चतुर्थस्य फलं भवेत् ॥ ७५ ॥**
**विद्यां षड्वर्णसंभूतामजय्यां पुण्यशालिनीम् ।**
**जपन्प्रागुक्तमभ्येति फलं ध्यानी शतत्रयम् ॥ ७६ ॥**

ये दोनों पद्य ज्ञानार्णव के ३८ वें प्रकरण के पद्य हैं और वहाँ क्रमशः नं० ५१ तथा ५० पर दर्ज हैं—यहाँ इन्हें आगे पीछे उद्धृत किया गया है। इनमें से दूसरा पद्य तो ज्यों का त्यों उठा कर रक्खा